

कच्ची समझ के वे दिन

□ गोपाल सहर

यह संस्मरण दक्षिण राजस्थान के सुदूर पहाड़ी अंचल के एक स्कूल से सम्बन्धित है। इसमें वर्णित स्थितियों से पता चलता है कि किस प्रकार प्रारंभिक शिक्षा के दिनों में शिक्षक के व्यवहार की छाप बच्चों पर पड़ती है। वृत्तान्त में शिक्षक के पूर्वाग्रहों और दलित बच्चों से भेद के प्रसंग भी उभरे हैं। यह विडम्बना ही कही जायेगी कि इस अंचल में अभी भी ऐसे स्कूल देखे जा सकते हैं।

बहुत छोटा-सा है मेरा गांव। सुविधा के नाम पर आज भी न वहां बस आती-जाती है और न चिकित्सालय है। स्कूल अभी दो वर्ष पूर्व आठवीं तक हुआ है। मैं चौथी कक्षा तक गांव में पढ़ा, उसके बाद आठवीं तक तीन किलोमीटर दूर नांदशा गांव में। उस समय मेरे गांव का स्कूल 'चलता-फिरता स्कूल' था। मौसम के अनुसार जगह बदली जाती। स्कूल के नाम पर एक बहुत बड़ा लोहे का बक्सा था, जो मंदिर में पड़ा रहता था जिसमें झंडा, दरियां, रजिस्टर, घंटी, गिलास एवं अन्य बर्तनों के साथ चॉक भी पड़े रहते थे। उन चॉक का उपयोग मैंने कभी नहीं देखा। अतः मैं चॉक पाने को लालायित रहता और मेरी इच्छा होती कि यहां-वहां दीवारों पर कुछ लिखूं। हां, वे चॉक मुझे कभी नहीं मिले। मैं दीवारों पर लिखने की अपनी इच्छा अन्य 'वस्तुओं' से जरूर पूरी करता। कुछ आकृतियां भी बनाता। आज मुझे याद नहीं है कि मैं उस समय दीवारों पर क्या लिखता था? पर स्मृति में वे दीवारें मेरे आगे आकर खड़ी हो जाती हैं, जो मिट्टी से लीपी होती थीं। आज इन मिट्टी की दीवारों की जगह चूना-सीमेंट की दीवारें हैं। दरअसल उस समय मेरे गांव में ठाकुर साहब की बड़ी हवेली के अलावा दो और मकान पक्के थे। बाकी सब कच्चे, मिट्टी के बने हुए।

हां, तो वह 'चलता-फिरता स्कूल' कभी बाहर खुले में हनुमान जी के मंदिर के चबूतरे पर पीपल की छाँह में, तो कभी चारभुजा मंदिर के बाहर खुले में लगता। या फिर मेरे घर की 'पोल' (दरवाजा) में, नहीं तो भंवर सिंह या लादूसिंह के घर के बाहर बड़े चबूतरों पर चलता था। उस समय अध्यापक रामजस जी गगरानी थे। वे मूल निवासी बनेड़ा के थे। वे रायपुर से साईकिल पर आते - जाते थे। हम बच्चे अध्यापक को गांव में 'माइसाब' कहते। यह 'माइसाब' कहने की परम्परा आज भी जीवित है। मैं दूसरी तक उनसे पढ़ा। तब तक मुझे गिनती सौ तक से भी कहीं ज्यादा आती और बीस तक पहाड़े बोलना-लिखना आते थे। उसके बाद एक प्यारेचंद जी विशनोई 'माइसाब' आये। उस समय स्कूल में भुजिये-कचोड़ी बनाकर बांटे जाते थे। कहा जाता था कि

आटा-बेसन के कट्टे एवं तेल के डिब्बे अमेरिकी सरकार ने भेजे हैं। मैं दूसरी कक्षा में थोड़े दिन ही पढ़ा था। मैं होशियार था। रामजस जी 'माइसाब' ने तीसरी कक्षा में बैठा दिया।

हमारे नये 'माइसाहब' गांव में ही किराये की कोठरी लेकर रहते। पर स्कूल का सारा काम हम बच्चों को ही करना होता था। घंटी बजाने से लेकर दरियां बिछाना-समेटना (दरियों पर चौथी कक्षा में पढ़ने वाले ही बैठते), माइसाब के लिए पानी की छोटी मटकी एवं बाल्टी कुएँ में से खींच करके भर लाना, बाड़-कांकड़ में से कचोरी-भुजिया तलने के लिए बलीता बीनकर लाना, झाड़ू लगाना, भुजिये-कचोरी बनाना, तलना और बांटना इत्यादि सब काम।

पता नहीं क्यों, पर नये माइसाहब के आने से पढ़ाई के प्रति मेरा उत्साह कमजोर पड़ गया था। मुझे याद है उसकी हल्की धुंधली सी तस्वीर कि रामजस जी माइसाब की बदली हो जाने पर हम गांव वालों ने उन्हें फूलों की माला पहनाई थी, उन पर गुलाल छांटी थी और पांच रुपये, नारियल हाथ में दिया था, तब मैं किस तरह पांच पटक-पटक कर रोया था। आंख, नाक बहते थे और बार-बार अपने ही पहने बुशर्ट की बांह पर पोंछ लेता था। मैं उनके साथ ही भाग जाना चाहता था, अतः मां मेरी बांह पकड़े थी। मैं टकटकी लगाए साईकिल के ऊपर बैठकर जाते हुए माइसाब को देखता रह गया। उसके बाद वे माइसाब दुबारा मेरे गांव नहीं लौटे। पर आज भी कोई बनेड़ा गांव का नाम लेता है या भीलवाड़ा जाती हुई बसों के दरवाजे पर एक टांग लटकाये कंडक्टर को बनेड़ा गांव की आवाज लगाते हुए सुनता हूँ तो वे 'माइसाब' ही सबसे पहले याद आते हैं मुझे।

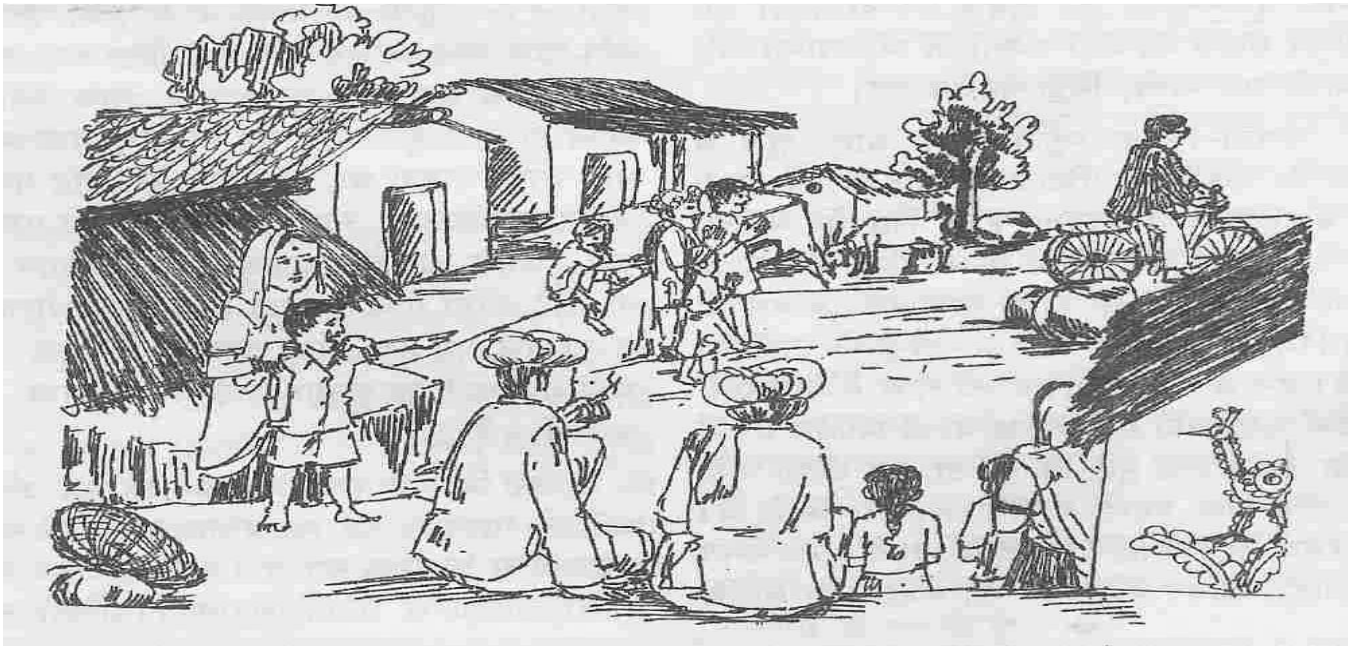
उन दिनों मैं स्वयं को अकेला एवं उपेक्षित महसूस करता था। नये माइसाब डंडे का प्रयोग ज्यादा ही करते थे। रामजस जी माइसाब से बिल्कुल मार नहीं खाई। पर नये माइसाब हरे नीम की पतली लकड़ी से सटाक-सटाक पिंडलियों-जांघों पर मारते थे।

शाम के चार बजते नहीं कि खड़ा करके पहाड़े बुलवाते और गलती हो तो सटाक। उन दिनों भुजिये-कचोड़ी बनाने वाले लड़कों में मेरा नंबर कम ही आता। मैं सोचता कि उसमें मेरा नंबर आ जाये तो अच्छा। मार पड़ने से बच जाऊंगा। इसके लिए मैं मंदिर के भगवान से कई बार प्रार्थना भी कर चुका होता पर जब भुजिये बनाने वाले लड़कों के नाम पुकारे जाते तो उनमें मेरा नाम नहीं होता। तब मैं सोचता कि यह भगवान भी जरूर माइसाब की लकड़ी से डरते होंगे इसीलिए मेरी नहीं सुनते। मुझे माइसाब पर बहुत गुस्सा आता। घर पर जाकर कहो तो माइसाब का ही पक्ष लिया जाता और ऊपर से मार पड़े सो अलग। मैं अपने गुस्से की अभिव्यक्ति उन्हीं मिट्टी से लिपी दीवारों पर रात को अंधेरे में कोयले से कर आता। माइसाब को लेकर जो मन में आता उटपटांग गालियों से लिख आता। पर माइसाहब बहुत होशियार थे। उन्होंने दीवारों पर की लिखावट का मिलान करके मुझे पकड़ लिया। उस दिन बहुत मार पड़ी। कान, हाथ मरोड़े गये। पीठ पर मुक़े पड़े। जांघ-पिण्डलियों पर हरी लकड़ियां मंड गईं और हथेलिया लाल-लाल हो गयीं। घर तक बात पहुंची। मां की बहुत बड़ी डांट पड़ी। शरीर पर जगह-जगह मंडे निशान देखकर भी किसी ने नहीं बिसाला। उस दिन मुझे पहली बार दुनिया में अकेले होने का अहसास हुआ। जो आज भी कायम है।

मैं उदास बाहर ओटली पर बैठा था। परथुदादा गायें-भैंसे चरा करके लौटा ही था। अपनी बंडी के खीस्सा में से बोर निकालकर दिये और पूछा - “काई व्हियौ थारे ?” मैं परथुदादा से लिपटकर फफक-फफक कर रो पड़ा। और वह मेरी लाल-लाल हथेलियों को देखकर माइसाब को जोर-जोर से गालियां निकालने लगा - “यो मास्टर नीं, राकसस है राकसस। नैना छौरा री फूल जिसी

हथेलियां माथै लीली कामड़ी सूं मारे।” और भी न जाने कैसी-कैसी मोटी-खुली गालियां निकाल रहा था और मैं डर के मारे छोटा हुआ जा रहा था कि ये बातें जानकर कल माइसाब फिर मारेंगे। इस बात को लेकर परथुदादा और घरवालों में बोलचाल बंद हो गई। मां कह रही थी - “माइसाब के लिये गालियां मांडता है भीतों पर। पढ़ेगा नहीं तो क्या ढांडे चरायेगा ?” यह बात सुनकर मुझे लगा कि अच्छा हो मां परथुदादा के साथ ढांडे चराने जाने को कह दे। पर आगे की बात, परथु की छुट्टी, मेरे लिये ज्यादा दुःखद थी कि उससे हर-हमेशा के लिए दूर हो जाना। फिर परथुदादा और मैं दोनों चुप हो गये। वह बोलने से और मैं रोने से। उस दिन मैंने परथुदादा के पास ही बैठकर रोटी खाई थी और सोया भी उसके साथ ही। अगले दिन सुबह हम दोनों चुपचाप अपने-अपने काम में लग गये। शायद यह हम दोनों का स्व-नियोजित खामोश समझौता था।

परथुदादा वाली बात माइसाहब के कानों पहुंची या नहीं, पर अगले दिन इस बात को लेकर मेरे मार नहीं पड़ी। मैं स्कूल में अपने-आपको सबके सामने छोटा महसूस कर रहा था। माइसाब अब मुझे माइसाब नहीं, दुश्मन दिखाई देते। जैसे-तैसे मैं चौथी कक्षा पास कर गया। मैं बहुत खुश हुआ कि इन माइसाब से मेरा पिण्ड (पिण्डलियां भी) छूटा। और अब पांचवी में नांदशा पढ़ने जाऊंगा, जहां सोहन लाल हिरण की दुकान पर खाने की मीठी गोलियां मिलती हैं। नांदशा पढ़ने जाने वाले लड़के उसकी दुकान की बातें किया करते थे। कभी-कभी मैं उनसे पांच-दस पैसे की गोलियां मंगवाता था। यह सत्य बात है कि उस समय मेरे गांव में न कोई किराणा की दुकान थी और न आटा पीसने की चक्की। सुबह जल्दी उठकर मां घट्टी मांडती और पीसती थी। कभी नांदशा



जाकर इंजिन से चली टूक-टूक करती चक्की में पीसणा पिसवाते। गांठ में बांधकर माथे पर उठाकर लाते-ले जाते।

दोनों माइसाहब के व्यवहार में अन्तर के साथ पढ़ाने के तौर तरीके में भी अंतर था। पहले माइसाहब जहां प्रेम से पास में बिठाकर बिना कोई दूरी एवं भेदभाव के पढ़ाते थे। उनके लिए हम सब छात्र एक जैसे थे। मैंने कभी उन्हें किसी को मारते नहीं देखा। स्लेट पर लिख-लिखकर सीखते समय पीठ पर हाथ फेरते और शाबासी देते। कभी डराते तो सिर्फ आंख से। दांतों के बीच होंठ दबाकर ऐसे देखते कि हम समझ जाते और चुपचाप बैठकर लिखने-पढ़ने लगते। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे पढ़ाते लिखाते समय हमारा पूरा ध्यान रखते, अतः हमारा चित्त कहीं और नहीं भटकता। उन्होंने कभी हाथ में डंडा नहीं पकड़ा। दूसरे माइसाहब बिल्कुल उनके विपरीत। सदैव हाथ में हरी लकड़ी लिये घुमाते रहते और चेहरे की डरावनी मुद्राएं जो सिर्फ मुझे ही नहीं किसी को भी नहीं भाईं। वे लड़के-लड़कियों में भी भेदभाव करते। लड़कियों को बहुत कम मारते-पीटते। इतना ही नहीं लड़कों में भी भेदभाव करते। दो-एक लड़के उनके प्रिय थे जो उनके घर का काम भी करते और अपने खेत में से ऋतु के अनुसार सब्जियां, मक्का, चना इत्यादि एवं गाय-भैंस का दूध देकर जाते। मुझे उन लड़कों से ईर्ष्या होती और लड़कियों पर गुस्सा आता। और मजे की बात यह कि मारने-पीटने, डराने धमकाने वाले यह माइसाब गांव वालों की दृष्टि में ज्यादा अच्छे थे। वे इतना सारा गृहकार्य देते कि डर के मारे अगली सुबह तक हम गृहकार्य ही करते रहते। हुआ यह कि हम पहले के वनिस्पत ज्यादा गंदे-मैले रहने लगे। अब नहाना-धोना सिर्फ रविवार को ही होता। पहले तो रामजस जी माइसाब किसी लड़के-लड़की के बहुत मैला-गंदा दीखने पर स्कूल में से 'आधे घंटे में, नहाकर आने की छुट्टी देते। तब हमारे दांत-नाखून साफ हुआ करते थे। और हुआ यह कि पहले माइसाहब के रहते जिन बच्चों ने स्वेच्छा से (चाहे भुजिये के लालच में ही क्यों नहीं) स्कूल आना शुरू किया था, उन्होंने नये माइसाहब के आने पर घर में स्कूल न जाने के लिए रोना-झींकना, थैला-पाटी पटकना शुरू कर दिया था।

स्कूल में सहायक सामग्री के नाम एक मात्र स्लेटनुमा 'कुछ' था, जिसका नाम मुझे न तब पता था, न अब है। उसमें विविध रंगी बड़े-बड़े मोती लगे हुए थे, जो गिनती सिखाने के काम आता था। पहले हम उन मोतियों को गिनकर 'गिनती' सीखते, अब उन मोतियों को टुकुर-टुकुर देखते रहते। लड़कियां रबर की रिंग से खेलतीं, मेरा मन ललचाता। माइसाब कहते यह लड़कियों के खेलने के लिए ही होता है। हम कबड्डी खो-खो खेलते और धूल में सन जाते।

मैंने गांव के आठ-दस लड़कों के साथ नांदशा की स्कूल में दाखिला ले लिया। पर उन माइसाहब के प्रति मेरे मन में न बाद

में आदर-भाव जन्मा और न आज है। उन दिनों के मेरे साथियों में चचेरे भाई रामपाल के अलावा खास भंवर सिंह था। यूं तो भोपाल सिंह, लादूसिंह, मदन जयसवाल, हेमचंद खटीक, गंगाराम रंगास्वामी भी थे। हम सब कंधों पर बस्ता लटकाये, नंगे पांव, सुबह-शाम पैदल कुल छह-सात किलोमीटर का फासला तय करते थे। पढ़ाई का महत्व उस समय तक हम नहीं जानते थे। इतना भर जानते थे कि फर्स्ट आने पर गांव स्कूल में वाह-वाही होती। पास होने से लाज बच जाती और फेल हो जाने पर शर्मिन्दा होना पड़ता और लोगों से सुनने को मिलता कि 'इसकी बाटियां तो जलकर राख हो गई।' मैं दूसरी कक्षा के बाद शायद कभी फर्स्ट नहीं आया ठेठ ग्यारहवीं तक।

हम नांदशा पढ़ने जाने वालों में दो तरह के अन्तर्सम्बन्ध थे। एक का आधार जाति था और दूसरे का मन। दोनों का मेरे में संघर्ष होता पर मैं जोड़तोड़ कर भी उन्हें एक नहीं कर पाता। मैं अपने को दिली तौर पर हेमचंद एवं गंगाराम के बहुत नजदीक पाता। गंगाराम तो पढ़ने में भी बहुत होशियार था। काश! उसे आगे पढ़ने का पूरा अवसर मिला होता तो आज टीपणा खोलकर, हाथ को देखकर घर-घर जाकर भीख नहीं मांग रहा होता। मुझे इस बात का अफसोस है कि मेरे उन गांव के संगी-साथियों में से कोई दसवी-ग्याहरवीं से आगे नहीं पढ़ पाया। मैं घर से रोटी-परांठे के साथ अचार-गुड़ ले जाता तो घर से यह कहा जाता था कि 'उनसे' बचाकर रखना कहीं छू न जाये। तब मुझे यह लगता था कि वह रोटी मेरे पेट में चले जाने के बाद गंगाराम और मेरे हाथ मिलाने पर साथ में खेलने या पढ़ने पर नहीं छूती होगी? और ऐसा कई बार हुआ कि गंगाराम, हेमचंद या मदन का स्पर्श हो जाने पर, और लड़कों के कहने से रोटी मुझे उन्हें दे देनी पड़ती थी। आज मैं मेरी उस मूर्खता पर खुलकर हंस सकता हूं। मुझे आश्चर्य भी होता कि यह गंगाराम मुझे ही स्पर्श क्यों करता है? एक दिन गंगाराम को मेरे भूखे रहने से दया आ गई और उसने बताया कि उसे उसके बड़े भाई ने यह 'स्पर्श' की बात सिखायी है, जिससे खाने को रोटी-अचार या परांठा मिल जाए। गंगाराम और उसके भाई के किये के पीछे का दर्द मैं आज महसूस कर सकता हूं। मुझे गुस्सा तो उस समय भी गंगाराम पर नहीं आया था, दया भी नहीं आई थी। इन सबके बीच मेरे दिल का चहेता तो सिर्फ भंवर सिंह था। हम दोनों बहुत साथ रहते। उसके खेत पर जाकर नींबू (कच्चे) को छीलकर घर से छुपाकर ले जाए गये नमक को लगाकर चुपके-चुपके खाते थे। वह उन दिनों मुझे 'गुरुजी' कह कर बुलाता था। इन दिनों में जब भी गांव जाता हूं तो परशु दादा जरूर याद आता है। उसकी एकमात्र तस्वीर जो मैंने ही कभी कैमरे से खींची थी, मेरे पास रखी है। उसे देखता हूं गांव से लौटकर। भंवर सिंह भी कभी-कभार मिलता है। वह गुजरात के डीसा शहर में बासन की फेरी फिरता है। ♦